प्रवचन

परमहंस श्री हंसानंदजी सरस्वती दण्डी स्वामीजी

विषय तालिका

CD # 48 * SEP + OCT 2011 *

(A)

SN	Title	Min	Coding			Contents	
						(a) @ Sep 2011	
1	Sep-01	32				**श्रीमद्भागवत् :: १/१/१ ::** भगवान के ३ स्वरूपों का निरूपण :: इस श्लोक के चार चरण हैं १ले चरण में भगवान के स०नि०, २सरे में स०सा० ३सरे माया का स्वरूप - जगत असत् होते हुए भी सत्य भासता है दृष्टान्त :- रज्जु-सर्प, मृग-तृष्णा का जल ४थे में नि०नि० स्वरूप का निरूपण है। सर्वप्रथम स०नि०/ईश्वर से ब्रह्मा उत्पन्न हुए फिर स०सा०/चतुर्भुज विष्णु रूप ने शोक-मोहयुक्त ब्रह्मा को ब्रह्म-स्वरूप/ज्ञान का उपदेश किया :- हे ब्रह्मा ! ये संसार मुझसे मेरी माया द्वारा उत्पन्न हुआ है अतः ये मेरा ही स्वरूप है। आदि-अन्त में मैं हूँ और मध्य में भी मैं हूँ, मेरे सिवाय व मुझसे भिन्न अन्य कुछ नहीं है। सभी भूत-प्राणी मुझ वासुदेव का ही स्वरूप हैं किन्तु मैं अनादि-अनंत हूँ। मैं सत्य हूँ व जगत मिथ्या है। सत्‌रूप भी मैं हूँ और असत्‌रूप भी मैं हूँ। ब्रह्म एक अद्वितीय है, सहस्त्रों श्रुतियाँ इसका प्रमाण हैं। अखण्ड रूप से ऐसी प्रज्ञा/ब्रह्माकार वृत्ति में स्थिति ही मोक्ष है :: निनि०-हम उस परमसत्य का ध्यान करते हैं जो 'सत्-चित्-आनंद' है। उस ब्रह्म में माया रज्जु में सर्प के समान अथवा मरुभूमि में मृगतृष्णा के जल के समान मिथ्या है।	
2	Sep-02	34				निश्प्रपंच ब्रह्म में प्रपंच का **अध्यारोप -अपवाद प्रक्रिया से विभिन्न सृष्टिक्रम** :: हे अर्जुन ! ये दृश्य जगत मुझमें मुझसे ही उत्पन्न होता, रहता व लय होता है। मुझे ही सच्चिदानंद ब्रह्म कहते हैं। सृष्टि के आदि में एक अद्वितीय ब्रह्म ही था । समझाने के लिये शुद्ध ब्रह्म में जगत का अध्यारोप करते है तदोपरान्त उसका अपवाद कर देते हैं फिर एक ब्रह्म ही शेष रहता है। **द्रष्टा ब्रह्म है और दृश्य माया है यही वेदान्त का निर्णय और सिद्धान्त है।**	
3	Sep-03	42				**गीता ७/४-६ ::** अर्जुन **अपरा** और **परा** दो प्रकार की प्रकृति/निद्रा/अज्ञान हैं और मैं तीसरा इन दोनों प्रकृति का आधार - अधिष्ठान हूँ। मेरे ऊपर ही ये दोनों प्रकृति जगत की उत्पत्ति-पालन और संहार करती है। मैं 'सत्य-ज्ञान-आनंद' से पूर्ण 'पुरुष' हूँ। ये दोनों प्रकृति मेरा स्वभाव है जो मुझसे उत्पन्न होकर फिर स्वयं मुझमें समा जाती हैं। **अपरा प्रकृति :-** भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, समष्टि मन, समष्टि बुद्धि, अहंकार । **परा प्रकृति :-** वह जीवरूप है, मुझ ब्रह्म का जड़ प्रकृति में प्रतिबिम्ब या आभास को जीव कहते हैं ये चेतन है, ये ही जगत को धारण करती है। सभी भूत इन दो प्रकृतियों से ही उत्पन्न होते हैं तथा मैं सम्पूर्ण जगत का प्रभव और प्रलय हूँ, जगत का मूल कारण हूँ। **समष्टि निद्रा = महामाया, व्यष्टि निद्रा = प्रकृति** । इस प्रकार ६ को जानने वाला **१०**वाँ हमारा स्वरूप **आधार-अधिष्ठान** ब्रह्म है, भगवान हैं।	
4	Sep-04	44				**गीता : १३/१-२ ::** १ अर्जुन क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ संसार में ये दो ही पदार्थ हैं, इनका ज्ञान ही संपूर्ण ज्ञान है। शरीर **'क्षेत्र'** - खेत के समान हैं और शरीर को देखने वाला **'क्षेत्रज्ञ'** - किसान के समान हैं। खेत में जो बोते हैं वही कई्गुना काटने को मिलता है अतः अपने कर्मों के अनुसार ही फल होता है, इस क्षेत्र व इसके शुभाशुभ कर्मों को जानने वाला क्षेत्रज्ञ है २ इन देहरूपी क्षेत्रों में जीवात्मा/क्षेत्रज्ञ तू मुझे ही जान। ये सभी क्षेत्र/खेत जड़ हैं व मेरी माया/प्रकृति से बन जाते हैं व इन सब में मैं ज्ञानवान रहता हूँ। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ को अर्थात् विकारसहित प्रकृति और अविकारी पुरुष को तत्त्व से जानना ही **ज्ञान** है। ये क्षेत्र/देह तीन प्रकार के हैं, दिखाई पड़ने वाला **स्थूल,** निराकार १६ तत्त्व का **सूक्ष्म** जिसमें सब कर्म होते हैं और अपने स्वरूप-अज्ञानरूप **कारण** देह हैं।	
5	Sep-05	52				**'ओंकार' का स्वरूप निरूपण ::** सृष्टि के आदि में सर्वप्रथम ओंकार का प्रादुर्भाव हुआ। प्रकट होने से पहले वह परम ब्रह्म ही था तब उसका नाम **'परा'** था, मन में आने पर **'पश्यन्ति',** कंठ में आने पर **'मध्यमा'** और फिर मुख में आने पर **'बैखरी'** पड़ा और ओंकार एक होकर अनेक स्वर-व्यंजन के रूप में बिखर गया। इन स्वर-व्यंजनों से ही सब नामपद और क्रियापद बनते हैं जिनसे सब व्यवहार चलता है। ओंकार ने ही संपूर्ण विश्व का रूप धारण किया है। संसार के सारे नाम ओंकार ने ही धारण किये हैं, ये नाम ही रूप को बताते हैं। नाम बिना रूप की पहचान नहीं होती है। ओंकार के ३ रूप हैं - अकार, उकार, मकार। इन तीनों को मिलाने से ओंकार बन जाता है। ये भग० का सबसे छोटा और सर्वश्रेष्ठ नाम है ये दुभाषिया भगवान के **निनि०**और **ससा०** दोनों स्वरूपों को बतलाता है, ये बीज रूप है यानि सभी नामों का बीज है जिससे सभी नाम-रूप संसार उत्पन्न हुआ है।	Imp
6	Sep-06	41				**गीता : १३/१-६ ::** *[See Q&N-III / pg-6 for details]* ३ वह क्षेत्र जो और जैसा व जिन विकारों वाला है और जिस कारण से हुआ है तथा वह क्षेत्रज्ञ भी जो और जिस प्रभाव वाला है वह तू संक्षेप में सुन ४ यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का तत्त्व ऋषियों द्वारा बहुत प्रकार से और विविधमंत्रों द्वारा भी विभागपूर्वक कहा गया है ५ + ६ **विकारों सहित क्षेत्र का स्वरूप** = पंचभूत + अहंकार + बुद्धि + अव्यक्त/मूलप्रकृति + मन + १० इन्द्रियाँ व इनके विषय + स्थूलदेह/पिण्ड + चेतना/चिदाभास + धृति + इच्छा + द्वेष + दुःख-सुख । इसे ही प्रणव/प्रकृति/सीता/गौरी कहते हैं । हे अर्जुन ! क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञान ही सम्पूर्ण ज्ञान है ।	
7	Sep-07	34				कर्म, विकर्म और अकर्म को जानना चाहिये क्योंकि कर्म की गति गूढ़ है। वेदविहित कर्म अथवा दैवीय सम्पदा **कर्म** है, निषिद्ध/वेद विरुद्ध अथवा आसुरी सम्पदा **विकर्म** है तथा सर्व का आधार-अधिष्ठान साक्षी चेतन ब्रह्म **अकर्म** है। कर्म से सुख और विकर्म से दुःख मिलता है। प्रतिबिम्बरूप जीव-ईश्वर में भी कर्म नहीं हैं, सभी कर्म केवल प्रकृति/माया-राज्य में हैं जो स्वभाव वश होते रहते हैं जैसे दिन और रात। हमारा आत्मा आधार-अधिष्ठान भी है और व्यापक भी । जो कर्म यानि प्रकृति में अकर्म-व्यापक ब्रह्म को और अकर्म यानि व्यापक ब्रह्म में कर्म/प्रकृति यानि अध्याससरूपम माया को देखता है वह ज्ञानी है, वह नित्य मुक्त है, कृत-कृत्य है उसे अब कुछ करना, कुछ पाना या कुछ जानना शेष नहीं।	
8	Sep-08	28				**गीता २/३० ::** अर्जुन देह और देही दो ही पदार्थ हैं तीसरा कोई नहीं है। देह तो जड़ है, माया का कार्य हैं और मैं देही ही सबकी आखों से देख रहा हूँ। ये शरीर अनित्य हैं सदा नहीं रहते हैं। अर्जुन तुम्हारा स्वरूप 'देही' है इसलिये तुम स्वभाव से नित्य हो, 'सत्-चित्-आनंद' हो, यही देही आत्मा का स्वरूप है अतः तुम किसी भी प्राणी के लिये शोक करने के योग्य नहीं हो। जब दुष्टों के नाश के लिये, किन्हीं शुभाशुभ कर्मों के वश नहीं वरन अपनी इच्छा से जब मैं अवतार लेता हूँ यानि ससा० देह धारण करता हूँ तो मेरा शरीर भी सदा नहीं रहता है। सभी जीवों के देहों में भी मैं ही जीवात्मा के रूप में देखता हूँ इसलिये सभी शरीरों में देखने वाला तो एक ही हुआ अर्थात् द्रष्टा एक ही है। **द्रष्टा** को **ब्रह्म** और **दृश्य** को **माया** कहते हैं। द्रष्टा-दृश्य दो ही पदार्थ हैं तथा दोनों का विरुद्ध स्वभाव है - द्रष्टा सच्चिदानंद है और माया असत्-जड़-दुःखरूप है। आने-जाने वाली माया व सदा रहने वाला द्रष्टा है। अर्जुन तू अपने को द्रष्टा जान, ये देह दृश्य हैं जो जन्मने-मरने वाले हैं अतः उनके शोक का कोई कारण नही। अर्जुन! अपने स्वरूप को जानना ही कर्तव्य है कि - **'मैं द्रष्टा-साक्षी चेतन आत्मा हूँ देह नहीं हूँ'** ।	
9	Sep-09	33				**गीता १५/१ ::** अर्जुन इस संसार का **मूल** ऊपर है वह सच्चिदानंद **ब्रह्म** है, उसी ब्रह्म से ब्रह्मा उत्पन्न होता है जो मुख्यतना है, फिर मनु-शतरूपा उत्पन्न होते हैं वह शाखा हैं, **वेद**/कर्मकाण्ड उसके **पत्ते, पुण्य-पाप** रूपी कर्म **फूल** तथा **सुख-दुःख** उसके **फल** हैं। फल पर्यन्त ही वृक्ष की वृद्धि होती है। ये संसार फल-फूल से लदा **अश्वत्थ वृक्ष** है। इस संसार का मूल सच्चिदानंद ब्रह्म है। ब्रह्म सत्य है किन्तु ये संसार **अश्वत्थ** यानि **स्थिर न रहने वाला,** स्वप्नवत् नाशवान है। जागृत का संसार भी स्वप्नवत् ही झूठा है।	1 Imp

						हमारा-तुम्हारा द्रष्टा स्वरूप है। हम अनगिनत जा०-स्व०-सु०/मास-वर्ष-कल्प देख चुके हैं किन्तु हम वह के वही हैं। ये संसार नदी के जल की भाँति नाश के प्रवाह में बहता चला जारहा है,संसार चल है पर इसे देखने वाला आत्मा अचल, सनातन है। अज्ञानीजन इस अश्वथवृक्ष को अविनाशी/अव्यय जानते हैं।**अर्जुन! हमारा-तुम्हारा स्वरूप द्रष्टा-साक्षी आत्मा है देह नहीं है।**	
10	Sep-10	30	⊕	⊕		**गीता २/३०-३१ ::** अर्जुन देह और देही दो ही पदार्थ हैं तीसरा कोई नहीं है। देह जड़ हैं व मेरी माया से बनते-बिगड़ते हैं, देही नित्य, अवध्य, सब देहों में व्यापक एवं सत्-चित्-आनंद रूप है। हमारा-तुम्हारा स्वरूप देही है। सभी देहों में ब्रा०क्ष०वै०शू० ४ वर्ण है। अर्जुन तुम क्षत्रिय हो, स्वधर्मानुसार तुम भय करने योग्य नहीं हो क्योंकि क्षत्रिय के लिये धर्मयुक्त युद्ध से बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी कर्तव्य नहीं है। **आत्मोपनिषद द्वारा देह-देही की भिन्नता** :- वर्ण गोत्र नाम रूप जाति जन्म-मरण **स्थूल देह** के धर्म हैं ये मुझ देही में नहीं हैं। आसुरी और दैवीय सम्पत्ति दोनों ही १६ तत्त्व वाले **सूक्ष्म-देह** के धर्म हैं, सभी कर्म सूक्ष्म देह में हैं, देही-आत्मा सूक्ष्मदेह से भिन्न है क्योंकि उसमें कोई कर्म नहीं हैं। प्रिय मोद प्रमोद निद्रा और अज्ञानता, ये सब **कारण देह** में हैं, हमारा-तुम्हारा स्वरूप कारण-देह से भिन्न है क्योंकि उसमें ये सब नहीं हैं।	
11	Sep-11	56	⊕	⊕	⊕	**गीता १५/१ -११ ::** सविस्तार वर्णन *Quotes & Notes III* के पृष्ठ **७** से **६** पर देखें **See Q&N-III / pg – 7 to 9 for details .**	*Imp*
12	Sep-12	41	⊕	⊕		**गीता १५/७ ::**ये जीव मेरा ही अंश है और सनातन है अर्थात् वह भी मेरी भाँति अनादि-अनंत है। जीवात्मा मेरा टुकड़े की तरह अंश नहीं है अपितु उपाधिकृत अंश है जैसे 'घटाकाश-मठाकाश' आकाश के उपाधिकृत अंश है :: **गरुड़-कागभुषुण्डि कथा** ::	*2*
13	Sep-13	28	⊕	⊕		**गीता २/३८-४५ :: कर्मयोग** :: ३८ अर्जुन! सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय दोनों में समान रहकर युद्ध करने पर तू पाप को नहीं प्राप्त होगा ३९ हे पार्थ! ये बुद्धि तुझे ज्ञानयोग के विषय में कही गयी अब तू कर्मयोग के विषय में सुन जिस बुद्धि से युक्त हुआ तू कर्मोंके बन्धन को सर्वथा नष्ट कर डालेगा। तू फल की अपेक्षा किये बिना भगवत्बुद्धि से 'निष्काम कर्म' कर क्योंकि तेरा कर्म पर ही अधिकार है ४० नि०कर्म में आरम्भ का नाश नहीं होता और न प्रत्यवाय/उल्टा फल-दोष ही होता है बल्कि थोड़ा सा भी साधन करने पर भी वह संसार बन्धन/जन्म-मृत्युरूप भयसे से रक्षा करता है ४१ **निश्चयात्मिका बुद्धि**, कि मैं भगवान के निमित्त ही कर्म कर रहा हूँ, एक ही होती है किन्तु अस्थिर विवेकहीन सकाम मनुष्यों की बुद्धि निश्चय ही भेदवाली और अनंत होती हैं ४२-४४ भोगों में लिप्त अज्ञानी लोग कर्मफल के प्रशंसक कर्मकाण्ड/वेदवाक्यों में ही प्रीति रखते हैं व जिनकी बुद्धि में स्वर्ग ही परम प्राप्य वस्तु है वे 'जन्म और कर्म' के चक्र से नहीं छूटते। ऐसे अविवेकीजन की पुष्पितवाणी भोग प्राप्ति हेतु अनेकों क्रियाओं का वर्णन करने वाली हैं। ऐश्वर्य की बुद्धि से उनका चित्त हरण कर लिया गया है उनकी बुद्धि भगवान में कभी स्थिर नहीं होती ४५ अर्जुन! कर्मकाण्ड तीन गुणों के कार्यरूप समस्त भोगयुक्त संसार का ही वर्णन करता है परमात्मा का नहीं अतः तुम सकाम-कर्म से परे और निर्द्वन्द्व होजाओ व नित्य सत्त्व गुण में ही स्थित रहो यानि अपनी बुद्धि को भगवान में लगाओ संसार के भोगों में नहीं। तुम योग-क्षेम की चिन्ता नहीं करो अपितु केवल अपनी आत्मा-परमात्मा के एकत्व का ही चिन्तन करो।	
14	Sep-14	35	⊕	⊕	⊕	**गीता १५/७ ::** जीव मेरा ही सनातन अंश है और ये शरीर मेरी माया से बन जाते हैं। मेरा अंश होने के कारण जीव का भी जन्म-मरण नहीं होता। **जीव में दो भाग होते हैं,** ३ **कूटस्थचेतन** - जो साक्षात् मैं ब्रह्म ही हूँ, साभासबुद्धि के साक्षी को ही कूटस्थ कहते हैं। सुनार की निहाई को कूट कहते हैं। 'कूटस्थआत्मा' रूपी निहाई के ऊपर ये मनरूपी सुनार चराचर जगतरूपी आभूषण बनाता और बिगाड़ता है। ये संसार मानस है क्योंकि जा०-स्व० में मन के रहते ही ये संसार रहता है, सुषु०मूर्छा मरण व समाधि में मन नहीं रहता तो संसार भी नहीं रहता। कूटस्थ जा०-स्व०-सुषु० तीनों को देखता है । कूटस्थ आत्मा तो पहले से ही सब जगह परिपूर्ण है आकाश की भाँति, उसका कहीं आना-जाना नहीं होता २ कूटस्थ चेतन का आभास/प्रतिबिम्ब बुद्धि में पड़ता है जिसे **आभासचेतन** चिदाभास या साभासबुद्धि कहते हैं। इस चिदाभास का ही एक देह से दूसरे देह में गमनागमन होता है आकाश में उड़ते पंछी की भाँति। मन/ साभासबुद्धि में ही सब कर्म होते हैं, साभास बुद्धि से १६ तत्त्व के सूक्ष्म शरीर को लेना चाहिये। **जीव भाव इसी साभास-अंतःकरण में है।** ये शरीर एक मकान है तथा आँख कान नाक आदि इन्द्रियाँ इस देहरूपी मकान में लगी खिड़कियों के समान हैं। इसमें रहने वाला जीवात्मा/चिदाभास ही इन खिड़कियों यानि इन्द्रियों से बाहर देखता है। प्रतिबिम्ब झूठे होते हुए भी बिम्ब का ज्ञान तो करा ही देता है। इन्द्रियों से बाहर निकलकर बुद्धि में चेतन का प्रतिबिम्ब ही 'शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध' आदि देखता/जानता है और मन की अनुकूलता- प्रतिकूलता के अनुसार सुखी-दुःखी होता है। सुख-दुःख आभास चेतन/चिदाभास का ही धर्म है, कूटस्थचेतन-आत्मा तो मन-बुद्धि का साक्षी, असंग, अकर्म, अचल और सनातन है, वह तो साक्षात् ब्रह्म ही है। **जीव/चिदाभास/प्रतिबिम्ब/आभासचेतन का लक्ष्यार्थ कूटस्थबिम्ब है,** न बुद्धि है, न मन है, न इन्द्रिय है और न शरीर । दर्पण में दिखने वाला प्रतिबिम्ब तो झूठा होता है परन्तु वह झूठा होते हुए भी सच्चे बिम्ब का ज्ञान कराता है। **विषयों का ज्ञान साभासबुद्धि/चिदाभास का ही धर्म है कूटस्थचेतन का नहीं है।** चिदाभास का सच्चा स्वरूप बिम्ब यानि कूटस्थ है और कूटस्थ का सच्चा स्वरूप ब्रह्म है। *कूटस्थचेतन हमारे मन, बुद्धि का साक्षी है, आभासचेतन द्वारा कूटस्थ ही जानता है कि हमारे मन-बुद्धि क्या सोचते हैं। वही प्रतिबिम्ब जब कूटस्थ में लीन होता है तो कूटस्थरूप हो जाता है और कूटस्थ तो ब्रह्मरूप है ही।*	३ ⊕ विशेष एवं सुन्दर
15	Sep-15	35	⊕	⊕	⊕		⊕
16	Sep-16	27	⊕	⊕	⊕	**गीता २/४५ ::** अर्जुन ये कर्मकाण्ड त्रैगुण्य से बने संसार का ही वर्णन करता है, तीनों गुण ही आपस में बर्त रहे हैं। सभी शरीर तीनगुणों से बने हैं किन्तु परमात्मा गुणातीत है अतः तुम आत्मस्वरूप को परमात्मरूप जानकर तीनगुणों से अतीत हो जाओ । ये शरीर मन बुद्धि प्राण आदि संसार का एक पन्ना है जिस एक शरीर के ज्ञान से सारे संसार का ज्ञान हो जाता है। सभी शरीरों में एक ही परमात्मा 'आत्मा' के रूप में निवास कर रहा है, वह एक ही देव ब्रह्म है जो सभी देहरूपी देवालयों में बैठकर देख रहा है। देव देखता है पर दिखाई नहीं देता और देवालय दिखाई देते हैं पर देखते नहीं। सच्चिदानंद ब्रह्म ही जीवात्मा के रूप में सभी शरीरों में बैठकर देख रहा है, वह आकाशवत् सर्वत्र व्यापक है। अर्जुन तुम अपने निस्त्रैगुण्य स्वरूप को जानो - कि सभी द्वन्द्व - जन्म-मरण शरीर के, सुख-दुःख मन के, मान-अपमान बुद्धि के और भूख-प्यास प्राणों के धर्म हैं आत्मा के नहीं। भूख -प्यास को साक्षी चेतन ही जानता है बिना इन्द्रियों के अतः अर्जुन तुम अपने आत्मस्वरूप को मुझ परमात्मा का स्वरूप जानो व सदा इसमें स्थित रहो, यह सर्वोत्तम अवस्था है। शास्त्र अध्ययन मध्यम अवस्था है।	
17	Sep-17	34	⊕	⊕	⊕	**गीता १५/७ ::** मेरा अंश जीव है और सनातन है परन्तु इस जीव के दो भाग हैं, **कूटस्थचेतन** और **आभासचेतन**। जा०स्व०सु० ये तीन माया की अवस्थाऐं हैं। सुषुप्ति 'कारणमाया' है और जागृत-स्वप्न 'कार्यमाया' है क्योंकि सुषुप्ति से जा०-स्व० का संसार उत्पन्न होता है और फिर लीन हो जाता है। जा०स्व०सु० बस इतनी ही माया है। ब्रह्म ही कारणउपाधि से 'ईश्वर' और कार्य उपाधि से 'जीव' कहलाता है परन्तु कार्य-कारणरूप माया सत्य तो है नहीं क्योंकि ये सदा नहीं रहती, २४ घंटे में एक समय में तीन में से एक ही अवस्था रहती है। पर तीनों अवस्थाओं को देखने वाला द्रष्टा-साक्षी ब्रह्म सदा एक समान रहता है और **'वह ब्रह्म मैं हूँ'** ऐसा जो जीव जानता है वह तुरन्त ही मुक्त हो जाता है। इसे **'सद्यमुक्ति'** कहते हैं। उसका जन्म-मरण नहीं होता। ब्रह्म 'सत्-चित्-आनंद' रूप है और माया 'असत्-जड़-दुःख' रूप है, ब्रह्म और माया का कभी संग नहीं होता।	*4* ⊕ *Imp* ⊕
18	Sep-18	31	⊕	⊕	⊕	**गीता २/४५ ::** अर्जुन ! माया के ३ गुण हैं, ये संसार इन तीन गुणों से बना है। वेद में भी तीन काण्ड हैं उसमें कर्मकाण्ड इस संसार का वर्णन करता है - ये वेद की रोचक वाणी है। संसार माया से बना है, तुम इसे त्याग दो। केवल मैं ही सत्य हूँ अतः मन को केवल मुझसे ही जोड़ो। सभी द्वन्द्वों से तुम रहित हो जाओ ये तो आते-जाते रहते हैं। इन्द्रियों और विषयों के सम्बन्ध से सुख-दुःख आते हैं किन्तु सभी द्वन्द्व अनित्य हैं इसलिये इन्हें सहन करो। सत्वगुण से ज्ञान होता है उसे ही तुम ग्रहण करो। मेरी भक्ति एवं मेरी शरण लेने पर तुम्हारे योगक्षेम का वहन मेरा दायित्व है।	
19	Sep-19	41	⊕	⊕	⊕	**गीता १५/७ -११ ::** जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है ये शरीर ही बनते-बिगड़ते हैं मेरी माया से। परमात्मा सत्-चित्-आनंद से पूर्ण है उसने अपनी इच्छा/माया से स्वयं ही जगत का रूप धारण कर लिया है और फिर जीवरूप से उनमें प्रवेश कर लिया। परम पवित्र परमात्मा शरीरों में जीवात्मा के रूप में प्रविष्ट है। जीवात्मा से ही ये शरीर जीवित हैं, इसके बाहर निकलने पर देह मुर्दा और अपवित्र हो जाता है। जीवात्मा के रहने से ही ये देह सुन्दर और पवित्र लगता है। जीवात्मा भगवान का स्वरूप है अतः परमपवित्र है, सब मंगलों का मंगल एवं देवताओं का देवता है और सभी भूत प्राणियों का अविनाशी पिता है। १६ तत्त्व के सूक्ष्म शरीर व उसमें कूटस्थचेतन का प्रतिबिम्ब / आभासचेतन / साभासबुद्धि का ही गमनागमन होता है। :: **१२ -१५ ::** का सविस्तार वर्णन *Q & N - III* के पृष्ठ **७** से **६** पर, **See Q&N-III / pg - 7 to 9 for details .**	*5* ⊕ *Imp* ⊕
20	Sep-20	42				**गीता १५/१५ ::** मैं सबके हृदय में विराजमान हूँ, मैं स्वयं ही सच्चिदानंद स्वरूप हूँ। मैं सबके भीतर जीवात्मा के रूप में आकाश की भाँति व्यापक और अखंड हूँ। अर्जुन तुम्हारा स्वरूप भी सच्चिदानंद आत्मा है। तुम ज्ञान से अपने सच्चिदानंद स्वरूप का अनुभव	*6*
			⊕	⊕	⊕		⊕

						करो। ये शरीर तो मेरी माया से बने हैं जो बनते-बिगड़ते रहते हैं। बुद्धि में स्मृति भी मुझ चेतन के आभास की प्रेरणा से है और विस्मृति भी। वेदों से मैं ही वेद्य हूँ तथा वेदों का प्रयोजन भी मुझे बताना ही है। मैं ही जगत का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण हूँ। मूर्त भी मैं हूँ और अमूर्त भी मैं हूँ। निनि० द्रष्टा भी मैं हूँ और अपनी माया से ससा० विश्वविराट दृश्य भी मैं ही हूँ।	
21	Sep-21	29	⊕	⊕		**गीता २/४५ ::** अर्जुन ये संसार ३ गुणों से बना है इसलिये उसे त्रैगुण्य कहते हैं। वेद के प्रथमखंड 'कर्मकाण्ड' इस संसार का वर्णन करता है। ये संसार मेरी माया/ इच्छा से बनता-बिगड़ता रहता है। मेरा स्वरूप सच्चिदानंद है और वही तुम्हारा भी स्वरूप है। तुम संसार को मायाकृत जानकर सभी द्वन्द्वों को त्यागो और नित्य सत्वगुण में स्थित रहो जिसके द्वारा मेरे ज्ञान-स्वरूप का दर्शन होता है अर्थात् सदैव अपने स्वरूप में स्थित रहो। मेरे आश्रित रहने वाले अपने भक्त का योग-क्षेम मैं वहन करता हूँ।	
22	Sep-22	46	⊕	⊕	⊕	**गीता १५/१५ -१६::** १५ मैं सबके हृदय में द्रष्टा-साक्षी के रूप में निवास करता हूँ, सभी शरीर मेरी माया से बनते हैं व सबकी आखों से मैं ही देखता हूँ। मुझसे ही बुद्धि में ज्ञान और स्मृति है और विस्मृति भी। सभी वेदों से मैं ही वेद्य हूँ तथा वेदों का प्रयोजन भी मुझे ही बताना है। में मैं ही वेद का कर्ता और जानने वाला हूँ १६ इस लोक में दो पुरुष हैं 'क्षर' और 'अक्षर', क्षण-क्षण में नाश के प्रवाह में बहने वाले प्राणी **'क्षर'** हैं जैसे गंगा का जल। जैसे नदियों को समुद्र पाकर विश्राम मिलता है वैसे ही ८४ लाख योनियों में भटकता जीवरूप नदी सच्चिदानंद समुद्र को पाकर समुद्र/ब्रह्मरूप ही हो जाता है। देह, धन, यौवन, वृक्ष-पर्वत, पृथ्वी, आकाश आदि सब चल हैं और जो नित्य, अचल, अविनाशी **कूटस्थ** है वह **'अक्षर'** है। हमारा तुम्हारा आत्मा द्रष्टा-साक्षी कूटस्थ है। जब माया/प्रकृति/ सुषुप्ति में कूटस्थ के प्रतिबिम्ब पड़ने पर ही वे अपना-२ कार्य करती है यानि जागृत- स्वप्न का संसार उत्पन्न कर देती है। बुद्धि में कूटस्थ का प्रतिबिम्ब यानि जीव की निद्राशक्ति अद्भुत स्वप्न उत्पन्न कर देती है और ईश्वर की माया शक्ति ब्रह्म में ही सारे ब्रह्माण्ड की रचना कर देती है। कूटस्थ का एक अर्थ कपटरूप भी होता है जो सत्य को ढाँककर झूठ को दिखा देता है, माया/प्रकृति को भी इस संदर्भ में कूटस्थ कहते हैं जो क्षर की अपेक्षा से अक्षर है :: **रानी चुड़ाला का पति को सर्वत्याग का उपदेश** फिर जो सर्व का द्रष्टा शेष रहता है वही तुम हो, अर्थात् दृश्य माया है और द्रष्टा ब्रह्म है वही तुम्हारा स्वरूप है। १६ का सविस्तार वर्णन *Q & N - III* के पृष्ठ ७ से ६ पर, *See Q&N-III / pg - 7 to 9 too.*	7 ⊕ Imp ⊕
23	Sep-23	30	⊕	⊕		**गीता २/४५ ::** अर्जुन! ये संसार त्रैगुण्य है तथा तीन गुण माया के हैं और माया से बनने वाली चीज़ झूठी होती है जैसे छाया। तीन गुणों से परे सच्चिदानंद ब्रह्म में अपना मन लगाओ व सदैव सत्व में स्थित रहो क्योंकि सत्व से ज्ञान यानि सच्चि०ब्रह्म की प्राप्ति होती है। तुम संसार को मायाकृत जानकर सभी द्वन्द्वों को त्यागो और योगक्षेम की चिन्ता न करो क्योंकि भक्तों का योगक्षेम मेरा दायित्व है, ४ प्रकार के भक्त, नारदमोह प्रसंग, ज्ञानी मेरे प्रौढ़ व भक्त छोटे बालक के समान है जिनकी रक्षा मैं करता हूँ।	
24	Sep-24	48	⊕	⊕	⊕	**गीता १५/१६ -२० ::** १६ इस लोक में दो पुरुष हैं, जन्म से ही प्रतिक्षण विनाश को प्राप्त होने वाले भूत-प्राणी **'क्षर'** तथा जिससे इन देहों का जन्म होता है वह ***प्रकृति*** अपने कार्य की अपेक्षा से **'अक्षर'** है किन्तु निर्पेक्ष प्रकृति भी अक्षर/अविनाशी नहीं है। परम अक्षर तो सच्चि० ब्रह्म है, ब्रह्म ही कार्य उपाधि से जीव और कारण उपाधि से ईश्वर कहलाता है। दोनों उपाधियों के त्यागने पर विशुद्ध अनंत अखंड ज्ञान ही शेष रहता है। जीव और ईश्वर दोनों ही कल्पित हैं, दोनों ने संसार की सृष्टि कर दी, ईक्षण से प्रवेश पर्यन्त सृष्टि ***ईश्वर*** की है तथा जा०-स्व०-सु०-जन्म-मरण सृष्टि ***जीव*** की है। शरीर में सुन्दरता और चेतनता जीवात्मा की है। देह अत्यन्त मलिन है और जीवात्मा अत्यन्त निर्मल और असंग। जीव परमब्रह्म को जानकर और अपने नामरूप को छोड़कर ब्रह्म के तद्रूप हो जाता हैं १७ **'उत्तमपुरुष'** तो क्षर-अक्षर दोनों से भिन्न है उसे अविनाशी परमात्मा कहते हैं जो आकाश की भाँति तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर आधार-अधिष्ठान रूप से सबको धारण करता है १८ मैं, अक्षर नाशवान जड़वर्ग सबसे अतीत हूँ और अविनाशी जीवात्मा से भी उत्तम हूँ इसलिये लोक और वेद में मैं **'पुरुषोत्तम'** नाम से प्रसिद्ध हूँ १९ जो ज्ञानी पुरुष मुझको तत्त्व से पुरुषोत्तम जानता है व सब प्रकार से निरन्तर मुझको ही भजता है , वह मेरा ही रूप हो जाता है २० अर्जुन ! तुझे मेरे द्वारा सबसे श्रेष्ठ एवं गोपनीय शास्त्र कहा गया इसे जानकर फिर कुछ जानना अथवा करना शेष नहीं है, ब्रह्म को जानकर सब काम पूरा हुआ १६-२० का वर्णन *Q & N - III* के पृष्ठ ७ से ६ पर भी *See Q&N-III / pg 7 to 9.*	8 ⊕ Imp ⊕
25	Sep-25	43	⊕	⊕ चतुश्लोकीय भागवत् ⊕ भाग १		**:: श्रीमद्भागवत् ::** हे ब्रह्मन! विज्ञान के सहित मैं तुझे ज्ञान देता हूँ। सृष्टि के आदि में मैं अकेला था। मेरी इच्छा मात्र से तेरी उत्पत्ति हो गयी। मेरी इच्छा शक्ति प्रकृति है, माया है। इच्छा प्रकट होती है तो मन का रूप धर लेती है। सृष्टि के आदि में 'न सत्/जा०, न असत्/स्व० न इनसे परे/सु०' कुछ नहीं थे। सुषुप्ति मेरी माया है तथा जा० और स्व० इसके कार्य हैं अतः ये तीनों माया हैं, चौथा इनसे अलग इनका आधार-अधिष्ठान मैं हूं जो तीनों को जानता है व स्वयं सिद्ध है। जो जा०-स्व०-सु० को प्रकाशता है वह ब्रह्म है वही तेरा स्वरूप है और वही जीवात्मा के रूप में सभी शरीरों में व्याप्त है। ब्रह्मन ! ये सृष्टि मुझसे उत्पन्न हुई है अतः मुझसे भिन्न नहीं है जैसे स्वर्ण और आभूषण। स्वर्ण सत्य हैं और आभूषण झूँठे हैं किन्तु स्वर्णरूप ही हैं अतः सत् भी मैं हूँ और माया से असत् भी मैं हूँ। कारणरूप से मैं अमृत हूँ और कार्यरूप से मैं ही मृत्युरूप शरीर भी हूँ। सत्रूप निनि० ब्रह्म अव्यवहार्य है और असत्रूप मायाकृत ससा० शरीर व्यवहार्य है। हमारा तुम्हारा स्वरूप मायापति ब्रह्म है और ये शरीर नाशवान 'भूत' हैं। निनि० द्रष्टा भी मैं हूँ और माया से ससा० दृश्य भी मैं ही हूँ। जैसे आदि में जल है, अन्त में भी जल है, मध्य में तरंगें प्रतीत होती हैं किन्तु वस्तुतः वे जल ही हैं। ब्रह्म रूप से सत् भी मैं हूँ व जगत रूप से असत् भी मैं हूँ, एक भी मैं हूँ अनेक भी मैं हूँ। अनेक-रूप एक-रूप से ही उत्पन्न होता है - **''ब्रह्म सत्यं जगत मिथ्या जीवो ब्रह्मैव न परा''**	⊕ Imp
26	Sep-26	42	⊕	⊕ चतुश्लोकीय भागवत् ⊕ भाग २ सम्पूर्ण		श्रीमद्भागवत्-द्वितीय स्कन्ध-९वाँ अध्याय :: चतुश्लोकीय भागवत् :: सृष्टि के आदि में सच्चि० ब्रह्म नारायण ही थे। नारायण ने सर्वप्रथम ब्रह्माजी को उत्पन्न किया व उन्हें शोक-मोह से युक्त देख चतुर्भुजरूप में उपदेश दिया कि :- हे ब्रह्मन! विज्ञान *(विशेषज्ञान)* सहित मैं तुझे ज्ञान *(सामान्यज्ञान)* का उपदेश देता हूँ, जितना मेरा विस्तार है व जिस प्रकार मैं विस्तार को प्राप्त होता हूँ, रहस्य सहित उसके सभी अंगों को कहता हूँ, सो तू ग्रहण कर। जो मेरा रूप है व जैसे गुणकर्म वाला मैं हूँ मेरे अनुग्रह से तुझे वह प्राप्त हो जाय। सृष्टि के आदि में 'न सत्/जा०, न असत्/स्व० न इनसे परे/सु०' कुछ नहीं थे। सुषुप्ति मेरी माया है तथा जा० और स्व० इसके कार्य हैं अतः ये तीनों माया हैं, चौथा इनसे अलग इनका आधार-अधिष्ठान मैं हूं जो तीनों को जानता है व स्वयं सिद्ध है। आदि-अंत-मध्य सभी मैं हूँ। कारण भी मैं हूँ और माया से कार्य भी मैं हूँ। कारणरूप से **एक** भी मैं हूँ और **अमृत** भी और कार्यरूप से **अनेक** भी मैं हूँ और **मृत्यु** भी। मुझ परमात्मा में मेरे बिना जो कुछ भी प्रतीत होता है वह सब माया है, जो मुझे ढँकती है वह माया है और सभी दृश्य भी माया है। माया अंधकार-रूप है और मैं प्रकाश-रूप। अज्ञान-रूपा माया एक चमत्कार है, जैसे पंचभूत व उनका कार्य *(स्थू०सु०देह इ०म०बु०प्रा०)* ये संसार है, उसमें मैं प्रविष्ट हूँ और नहीं भी क्योंकि उनका कारण भी मैं हूँ, कारण के अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं। आत्म तत्त्व के जिज्ञासुओं को इतना ही जिज्ञास्य है कि ब्रह्म सबमें कारणरूप से व्यापक है-ये **अन्वय** है और कार्यदृष्टि से ब्रह्म के सिवा अन्य कुछ है ही नहीं-ये **व्यतिरेक** है। कार्य सत्य नहीं हे। कारण सत्य है अतः **'ब्रह्म सत्यं जगत मिथ्या...'**। मैं ब्रह्म हूँ शेष सब माया है । मुझ अधिष्ठान ब्रह्म में माया जगत की कल्पना कर देती है व जा०स्व०सु० के रूप में आती-जाती रहती है, **इन तीनों को देखने वाला ब्रह्म है और वह ब्रह्म मैं ही हूँ-यही सम्पूर्ण ज्ञान है।** हे ब्रह्मन! इस ज्ञान को तुम समाधि में स्थित होकर धारण करो तब तुम कल्प-विकल्प यानि सृष्टि में और सृष्टि के विनाश में मोहित नहीं होगे। **स्वयं को अधि० ब्रह्म जानो तथा शेष जो भी प्रतीत होता है उसे मेरी माया जानो।**	⊕ Imp
27	Sep-27	42	⊕	⊕	⊕	**कर्म, विकर्म** और **अकर्म** को जानना चाहिये क्योंकि कर्म की गति गहन है। अर्जुन! अपने वर्णाश्रमपदाधिकार के अनुरूप वेदविहित कर्म **'कर्म'** और वेद-विरुद्ध कर्म **'विकर्म'** हैं तथा आत्मा **'अकर्म'** है। कर्म के और तीन प्रकार हैं, संचित - अनेक जन्मों में किये गये कर्म, प्रारब्ध - संचितकर्मों में से जिन परिपक्व कर्मों का फल भोगने हेतु ये शरीर मिला है, शुभ-अशुभ कोई भी कर्म हों बिना भोगे प्रारब्धकर्म क्षीर्ण नहीं होते क्रियमाणि/आगामी - जो कर्म इस जन्म में किये जारहे हैं, पाप हो अथवा पुण्य, प्रबल कर्मों का फल इसी जन्म में मिल जाता है। आत्मज्ञान रूपी अग्नि में **संचित कर्म** वैसे ही भस्म होजाते हैं जैसे प्रकट अग्नि से ईंधन का पर्वत क्योंकि कर्म ही बन्धनकारक हैं, कर्मों का फल भोगने के लिये बार-बार देह धारण करनी पड़ती है। मुझ सच्चि० ब्रह्म का जिसे ज्ञान हो जाता है उसके करोड़ों जन्मों के कर्म भस्म होजाते हैं, दृष्टान्त - स्वप्नवत् । **क्रियमाणि** कर्म कैसे नष्ट होते हैं :- ज्ञानरूपी अग्नि में देहाभिमान नहीं रहता इसलिये मैं देह नहीं अपितु मैं देह में रहने वाला आत्मा हूँ क्योंकि आत्मा अकर्म द्रष्टा-साक्षी है अतः न वह मारता है और न मरवाता है, कर्म केवल प्रकृति में है। **प्रारब्धकर्मों** का भोग से नाश हो जाता है। आत्मज्ञानी के सारे कर्म नष्ट होजाते हैं जैसे भुना हुआ चना जिससे अंकुर न फूट सके क्योंकि कर्म ही अंकुर हैं।	कर्म-भाग १

28	Sep-28	63	⊕	⊕	⊕	**कर्म, विकर्म** और **अकर्म** को जानना चाहिये क्योंकि कर्म की गति गूढ़ है। जो भी मनुष्य कर्म करता है ये संस्कार रूप से मन में रहते हैं और ये मन प्रकृति में रहता है अतः सारे ही कर्म प्रकृति में जमा रहते है। मैं प्रकृति का कारण हूं, प्रकृति के द्वारा ही मैं सृष्टि करता हूं, प्रकृति को ही माया कहते हैं इसलिये मैं जीवों के सभी कर्मों को जानता हूं, उनके फलों को जानता हूं अतः जीवों के कर्मानुसार ही माया द्वारा जीवों को शरीर प्रदान करता हूं। मैं ४ वर्ण की सृष्टि मैं करता हूं परन्तु इनके गुण और कर्म के विभागानुसार ही इन्हें मैं शरीर देता हूं – सत्वगुण प्रधानता से ब्राह्मण, रजोगुण से क्षत्रिय, रजतम से वैश्य और तमोगुण की प्रधानता से शूद्र। चारों वर्ण की सृष्टि मेरे द्वारा होती है अतः इनका माता-पिता भी मैं हूं, अपने ऊपर ही इस जगत को धारण करता हूं इसलिये धाता भी मैं हूं। मेरी प्राप्ति के साधन ओंकार, ओंकार का विस्तार व चारों वेद भी मैं ही हूं जिनका प्रयोजन मुझे बताना ही है भगवान जगत के अभिन्ननिमित्तोपादान कारण हैं, कर्मों का बिना भोग किये नाश नहीं होता किन्तु अपने **'स्वरूप ज्ञान'** से सभी कर्मों का नाश हो जाता है। **'ज्ञान'** अग्नि है और 'कर्म' काष्ठ अथवा ईधन। **'मैं ब्रह्म हूं'** ऐसा जिसे ज्ञान हो जाता है उसके करोड़ों जन्मों के कर्म दग्ध हो जाते हैं जैसे स्वप्न में किये कर्म जागने पर निष्फल हो जाते हैं। ज्ञान होने पर जगत स्वप्नवत् हो जाता है :- जिसका देह में अभिमान नहीं है तथा जो जानता है कि **"मैं तो आत्मा हूं, भगवान का अंश हूं"**, ये ज्ञान होते ही वर्तमान अथवा क्रियमाणि कर्म भी नहीं होते। तीन प्रकार से भगवान की माया का नाश होजाता है १ **शास्त्र** से संसार मिथ्या दिखाई पड़ने लगता है २ **अपरोक्ष ज्ञान** होते ही अपने द्रष्टा स्वरूप में स्थित होकर जगत स्वप्नवत् दीखता है ३ जीवन पर्यन्त जगत की प्रतीति होती रहती है पर **प्रारब्ध** पूरा होने पर प्रतीति का भी नाश हो जाता है और आत्म माया का तीन प्रकार से नाश हो जाता है।	**कर्म–भाग २**
29	Sep-29	40	⊕	⊕	⊕	**लक्ष्मण का भग० राम से निवेदन :-** ज्ञान, वैराग्य, माया, जीव और ईश्वर क्या है ? भक्ति का स्वरूप क्या है ? जिसके वश होकर आप भक्त पर दया करते हैं जिससे उसका शोक, मोह, भ्रम चला जाये *(भ्रम का मूल अज्ञान है, भ्रम से मोह व मोह से शोक होता है)* भग० राम का भ्राता लक्ष्मण को 'माया, जीव, ईश्वर, ज्ञान, वैराग्य और भक्ति का संक्षेप में उपदेश ***Q&N – III / 11***	***Imp***
30	Sep-30	48	⊕	⊕		**कर्म, विकर्म** और **अकर्म निरूपण ::** वेद विधि ही **धर्म** अथवा **कर्म** हैं तथा वेद निषिद्ध कर्म **विकर्म** हैं। वर्णाश्रम-पदाधिकार के अनुसार व्यक्तिगत कर्तव्य का वेद में विधान **'विशेष'** कर्म है। वेद-विहित **'सामान्य'** धर्म/कर्म सभी वर्णाश्रम को पालन करना चाहिये। **सामान्य-धर्म** :- १ अहिंसा २ सत्य ३ अस्तेय ४ ब्रह्मचर्य ५ अपरिग्रह ६ अक्रोध ७ गुरु-सुश्रुषा.......१५	**कर्म भाग ३**
31	Sep-31	33	⊕	⊕		**कर्म, विकर्म** और **अकर्म निरूपण :: सामान्य धर्म :-** ८ शौचं ९ सन्तोषं १० आर्जवम् ११ आस्तिकत्त्वम् १२ अमानित्वम् १३ अदम्भित्त्वं १४ पंचयज्ञ । अकर्म :: हमारा तुम्हारा आत्मा अकर्म है सभी कर्म प्रकृति व उसके कार्य – दे०इ०म०बु०प्रा० में हैं। आत्मा अधिष्ठान है उसके ऊपर ही प्रकृति/दे०इ०म०बु०प्रा० के कर्म हो रहे हैं पर आत्मा को छूते नहीं हैं। आत्मा में अध्यस्थ जा०-स्व०रूपी अध्यासरूप संसार दीखता है। जो प्रकृति में अकर्म व्यापक आत्मा को और अधिष्ठान असंग आत्मा में अध्यस्थ प्रकृति को देखता है वह मनुष्यों में बुद्धिमान है, **ज्ञानी** है, वही योगी है। उसकी अपनी आत्मा में ही प्रीति, संतुष्टि और तृप्ति है उसे अब कुछ करना, पाना और जानना शेष नहीं है, वह कृत-कृत्य है।	**कर्म–भाग ४**
32	Sep-32	40	⊕	⊕		दो विषय जानने योग्य हैं १ **शब्द ब्रहम** २ **परम ब्रह्म**, जो शब्दब्रह्म में निष्णात् होता है वह परमब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। शब्दब्रह्म भगवान की वाणी वेद है। :: ओंकार का विस्तार :: सृष्टि के आदि में सर्वप्रथम **ओंकार** का प्रादुर्भाव हुआ। प्रकट होने से पहले वह परमब्रह्म ही था तब उसका नाम **'परा'**, मन में आने पर **'पश्यन्ति'**, कंठ में आने पर **'मध्यमा'** और फिर मुख में आने पर **'बैखरी'** पड़ा और ओंकार एक होकर अनेक **स्वर-व्यंजन** के रूप में बिखर गया। सारा संसार नाम-रूप वाला है जो स्वर-व्यंजन रूप ओंकार का ही विस्तार है। ओंकार बीज है और संसार अश्वथ वृक्ष है **:: माण्डूक्य उपनिषद का परिचय ::**	****** See Q&N III/5***
33	Sep-33	31	⊕			चार प्रकार के पुण्यात्मा भक्त मुझको भजते हैं १ **आर्त** – कष्ट में २ **अर्थार्थी** – स्त्री, पुत्र, धन की कामना से ३ **जिज्ञासु** – साधन चतुष्ट्य सम्पन्न ४ **ज्ञानी** – जो मुझे तत्त्व से जानते हैं। चतुष्ट्य साधन :: विवेक – अपनी आत्मा अजर अमर अचल अविनाशी सच्चिदानंद स्वरूप है, ये ज्ञान विवेक है, वैराग्य – संसार से विरक्ति वैराग्य है, आत्मा सच्चि०स्वरूप है और जा०स्व० सु० स्वप्नवत् है, माया है षट्क सम्पदा – शम, दम, उपरम, तितीक्षा, श्रद्धा, समाधान, मुमुक्षुता – मोक्ष की प्रबल इच्छा । संसार दुःख का समुद्र है वहाँ सुख नहीं है और भगवान सुख सिन्धु है वहाँ दुःख नहीं है ।	
34	Sep-34	35	⊕			मेरी भक्ति करने से मुझ सच्चिदानंद स्वरूप का ज्ञान और वैराग्य होता है। ज्ञान अज्ञान का नाश कर देता है फिर अज्ञान-रचित जा०-स्व० के संसार से वैराग्य हो जाता है। जैसे प्रकाश के बिना अन्धकार का नाश नहीं होता इसी प्रकार भक्ति का पुत्र ज्ञान ही अज्ञान का नाश करता है। भक्ति होने से उसके पुत्र **'ज्ञान और वैराग्य'** अवश्य ही होंगे अतः भक्ति अत्यधिक आवश्यक है। भगवान राम का शबरी को 'नवधा भक्ति' का उपदेश ।	
35	Sep-35	12 आरम्भ	⊕	⊕		**श्रीमद्भागवत् :: १/१/१ ::** भगवान के ३ स्वरूपों का निरूपण :: इस श्लोक के चार चरण हैं १हले चरण में भगवान के स०नि०, २सरे में स०सा० ३सरे माया का स्वरूप – जगत असत् होते हुए भी सत्य भासता है दृष्टान्त :- रज्जु-सर्प, मृग-तृष्णा का जल ४थे में नि०नि० स्वरूप का निरूपण है। सर्वप्रथम स०नि०/ईश्वर से ब्रह्मा उत्पन्न हुए फिर स०सा०/चतुर्भुज विष्णु रूप ने शोक-मोहयुक्त ब्रह्मा को ब्रह्म-स्वरूप/ज्ञान का उपदेश किया :- हे ब्रह्मा ! ये संसार मुझसे मेरी माया द्वारा उत्पन्न हुआ है अतः ये मेरा ही स्वरूप है। **आदि-अन्त में मैं हूं और मध्य में भी मैं हूं, मेरे सिवाय व मुझसे भिन्न अन्य कुछ नहीं है। सभी भूत-प्राणी मुझ वासुदेव का ही स्वरूप हैं किन्तु मैं अनादि-अनंत हूं। मैं सत्य हूं व जगत मिथ्या है। सत्रूप भी मैं हूं और असत्रूप भी मैं हूं।** ब्रह्म एक अद्वितीय है, सहस्त्रों श्रुतियाँ इसका प्रमाण हैं। **अखण्ड रूप से ऐसी प्रज्ञा/ब्रह्माकार वृत्ति में स्थिति ही मोक्ष है** :: निनि०-हम उस परम्सत्य का ध्यान करते हैं जो 'सत्-चित्-आनंद' है। उस ब्रह्म में माया रज्जु में सर्प के समान अथवा मरुभूमि में मृगतृष्णा के जल के समान मिथ्या है।	
36	Sep-36	36 मध्य – अंत ? प्रवचन में					